लोक सांस्कृतिक पर आधारित चित्रकूट का समीक्षात्मक अध्ययन

प्राप्तिः 18.02.26
स्वीकृतः 03.03.26

17

साक्षी राघव
शोधार्थी
नोएडा इण्टरनेशनल यूनिवर्सिटी
ग्रेटर नोएडा
ईमेलः *sakshiraghav2401@gmail.com*

डॉ. मनी नंदनी शर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
नोएडा इण्टरनेशनल यूनिवर्सिटी
ग्रेटर नोएडा

डॉ. विनय पटेल
असिस्टेंट प्रोफेसर
नोएडा इण्टरनेशनल
यूनिवर्सिटी
ग्रेटर नोएडा

सारांश

*प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय चित्रकला के इतिहास में देश की रचनात्मक प्रवृत्ति संसार के अन्य देशों की अपेक्षा सबसे अधिक थी। चित्रकला का इतना लम्बा इतिहास ऐसा व्यापक क्षेत्र अन्या किसी देश में नहीं पाया जाता। यह एक विशिष्ट् जनसेवा कला थी। गुहा एवं घरों की भित्तियों पर मंदिरों में चित्रात्मक अलंकरण की यह प्रथा पोथियों पर कहीं–कही बची रह गयी है। **बाँधनी** और **पटोले, कलमकारी** के वस्त्र तो चित्रकला के ही विकसित रूप थे। इनके अतिरिक्त भूमि पर धूलिचित्र **'नाना चित्रात्मक आकृतियों के अलंकृत'** एक ऐसी कला है, जिसमें समस्त देश के स्त्री पुरूष समाज ने बहुत अधिक रूचि ली।*

मुख्य बिन्दु

लोक संस्कृति, चित्रकूट क्षेत्र, लोक परंपराएँ, धार्मिक एवं सांस्कृतिक विरासत, लोक कला और लोक साहित्य, सामाजिक जीवन एवं मान्यताएँ, सांस्कृतिक पहचान।

सौभाग्य से आज भी जहाँ नयी सभ्यता का प्रहार नहीं हुआ है, वहाँ इस कला में अभिरूचि देखी जाती है। बंगाल में इसे **अल्पना,** बिहार में **ऐंपन,** उत्तर प्रदेश में **चौक–पूरना,** राजस्थान में **माँड़ना,** गुजरात और महाराष्ट्र में **रंगोली** (सं0 रंगवल्ली) और दक्षिण में **कोलम** कहते है। इनमें जो आकृतियाँ लिखी जाती है उनकी ओर कुछ थोडा ही ध्यान अभी दिया गया है, यद्यिपि समस्त सामग्री का अध्ययन करने पर तुलन योग्य राजस्थान में **मेहंदी** के रूप मे शरीर को भी सुन्दर चित्रात्मक आकृतियों से अलंकृत करने की प्रथा आज तक पायी जाती है। इसे प्राचीन काल में **विशेषक–रचना** कहते थे।[1] स्त्रियाँ अपने लालट, कपोल, स्तन और हाथों पर इस प्रकार के सुरूचिपूर्ण अलंकार बनाती थीं। इस कला की भारतभूमि में व्यापक प्रगति हुई और मथुरा–वृन्दावन आदि केंद्रों में आज भी यह जीवन्त कला है। विविध सूखे रंगों की सहायता से भूमि पर अनेक देव लीलाओं के अनेक चित्र बनाए जाते हैं।– जिनमें **भगवत्** सम्बन्धी **कृष्ण–लीलाएँ (रासलीला)** मुख्य हैं। यद्यपि मानवीय दृश्य या प्राकृतिक दृश्य को लेकर–धूलिचित्र या **साँझी** का निर्माण किया जाता है और देवलीला के साथ ऐसा प्रायः करते भी है। न केवल भूमि पर बल्कि किसी चौड़े पात्र में भरे हुए स्थिर जल के ऊपर धूलिचित्रों की रचना युक्ति से की जाती है।[2] इस प्रकार के चित्र लिखने के लिए खाके काटकर रख लिए जाते

https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2026.v17i01.17

है, जिन्हें बहुत वर्षों तक उपयागी बनाये रख सकते है। संस्कृत में इन्हे छेद्य या पत्र–छेद्य कहते हैं और आजकल अंग्रेजी में स्टैंसिल कहते है। ऐसे खाके काटने का चलन सम्राटों की प्रतीक्षा में मनोविनोद के साधन माने जाते है। पत्रछेद्य प्रथा का उल्लेख बाणभट्ट की कादम्बरी में मिलते है। तरह–तरह के मिटटी के बर्तन, खिलौने आदि को भी चित्रों से सजाया जाता था। उत्तर प्रदेश के आद्यान्त क्षेत्र बिहार आदि में आज भी ऐसे अलंकृत या प्रतिमण्डित (पूर्णघट) मंगल कलश चित्रांकित करने की प्रथा हैं। कहने का आशय यह है कि भित्ति–चित्र, पट–चित्र, पट्ट–चित्र, ग्रन्थ–चित्र, पत्र चित्र (ताड़पत्र, भोजपत्र) आदि नाना रूपों में भारतवर्ष में चित्रकला का लगभग ढ़ाई हजार वर्षों का देशभर में व्यापक प्रचार–प्रसार रहा।

चित्रकला के विषयों का विस्तार तो जीवन के विस्तार सदृष ही थी, जितना जीवन उतने ही चित्रों के विषय– देव, सिद्ध, गंधर्व, विद्याधर, असुर, मानव, पशु–पक्षी आदि के अनेक रूप, चरित्र और विधान लिखे जाते थे। प्रायः अभिजात पुरूषों के आवासों में नव दम्पत्ति के लिए चित्र मालिकाएँ बनाई जाती थीं, उनकी भित्तियों पर अनेक प्रकार के दृश्यों के अतिरिक्त 'कामदेव' और उसकी 'रती' और 'प्रीति' नामक स्त्रियों के चित्र भी लिखे जाते थे। भवभूति ने उत्तर रामरित में पूरी 'रामकथा' को चित्रित करने का, जो वर्णन किया है, वह अप्रतिम है, अनेक नाटकों एवं प्रेमाख्यानों पर चित्र लेखन के अभिप्राय की पुष्टि की गई है। नागर संस्कृति में सुसंस्कृत स्त्री–पुरूष एक दूसरे की छवि का अंकन करते थे। वात्स्यायन का 'कामसूत्र' कालिदास का 'मेद्यदूत' यक्ष सम्बन्धी जिज्ञासा कला में प्राणत्व है। भारत में चित्र विद्याचार्यों ने विषय और कला दोनों के अतीवन की दृष्टि् से, जिस उच्चता को प्राप्त किया, उसका विश्व विदित उदाहरण अजन्ता की गुफाओं के भित्ति चित्र हैं। कितने अधिक विस्तारपूर्वक भित्तियों, छतों, स्तम्भों पर स्थान का विभाजन कर, संयोजन का संतुलित रूप, रंग, रेखा, और भाव के कौशल से पाट दिया गया है। अजन्ता के चित्र मण्डल धर्म और जीवन के दिव्य भाव और भव्य प्रयोग से गुप्तकाल को धन्य कर देते हैं। गोपाल गुर्जरी नृत्य, सित्तनवासल (सिद्ध निवास गुफा) गुफा में नृत्यरत अप्सरा, अमलवन की नायिका हैं, हस्तिक्रीड़ा आलेखन अत्यन्त सुन्दर है। गुफाओं देवालयों की भित्तियों पर चित्रांकन की परम्परा को राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त है। भारतीय धर्म और संस्कृति का प्रचार–प्रसार चित्रकला और शिल्प के सृजनधारा में एशियाई कला अनुप्रेरित होकर फैल गयी।[3]

भारतीय कला में बौद्ध परिपथ का विकास चीन, जापान, अफगानिस्तान, श्रीलंका, इंडोनेशिया आदि देशों के मध्य एशियाई शैली का खूब विकास हुआ। गुप्तकालीन शडंग–दर्शन के तो क्या कहने, चित्र को लिखने और दर्शन को उतार देने की धर्ममय भावना संस्कृति के ही अंग हैं। भारतवर्ष में पुरानी पोथियों में पूरी चित्रकथा आवरण से पृष्ठों तक भरी पड़ी है– :मध्यकालीन भक्ति 'काव्य' और 'रीतिकालीन भावगाम्भीर' और वैचित्र्य को समझने के लिए ये चित्र और साहित्य व्याख्या स्वरूप है। भारतवर्ष में चित्रकला बहुत प्राचीन काल से ही बड़ी मानित रही है और जीवन के हर क्षेत्र में समृद्धि सूचक बनी। चित्रकला विषय, विचारों, आदर्शों और मानवीय उल्लास को प्रकट करने वाली समस्त कलाओं में एक सहसम्बन्ध को खोजा था। विष्णुधर्मोत्तर में नृत्यं चित्रं परस्मृतम् ऐसे ही नहीं कहा गया। कालिदास ने नृत्य और चित्र को देवताओं का चाक्षुश यज्ञ कहा है। इन बातों से इन कलाओं की महिमा गान लोकोत्तर आनन्द को सिद्ध करता है।[4]

लोक चित्रण लोक संस्कृति का ही एक अभिन्न अंग है। लोक संस्कृति की रूपरेखा विशाल वट वृक्ष से की जाय तो उसकी शाखाओं में चित्र संस्कृति झूलती है। 'लोक संस्कृति' में मानवीय कला का सम्पूर्ण क्रिया व्यापार की पूरी छाप दुष्ट आत्माओं, भूतंप्रेतं की पैशाचिकी प्रवृत्ति, बैताल', 'ब्रह्मराक्षस', 'जिन्न' आदि के साथ भयमूलक चित्र भी परिकल्पित हुए, वहीं शिकार आनन्दोत्सव, जन्मदिन, वैवाहिक सुख जीवन व्यवहार का पूरा विलास भरा पड़ा है। संसार के प्राचीनतम चित्रांकन प्रयासों से पता चलता है कि रूपों की कल्पना और रचना सत्य और असत्य के बीच मध्यवर्ती स्थिति की उत्पत्ति है।[5] मानवीय रूप सृष्टि के दो प्रमुख पक्ष थे– एक आदिम मनुष्य का यह विष्वास था कि जिस चीज का चित्र बनाया जाता है, वह बढ़ा करती है। अगर एक हरिण का चित्र बनाया जाता है, तो वन में हिरणों की संख्या बढ़ेगी, एक बादल का चित्र उरेहा गया, तो अनेक बादल छाएंगे? दूसरा यह कि आदि मानव चित्र को वास्तविक वस्तु का प्रतिनिधि मानता और समझता था। किसी वस्तु के चित्र के अधिकार में रहने का फल होता है। उस वास्तविक वस्तु का अधिकार में रहना, जैसे– गाय का चित्र जिसके पास होगा, उसके पास गाय होगी। संक्षेपवश यह कह सकते हैं कि आदिम मानव की मूल रचना मांगल्यसूचक थी, भयमूलक नहीं। इन्हें तान्त्रिक क्रियाओं से जोड़कर देखा जाता है। इसके लिए हमें फ्रेजर के निष्कर्षों को समझना होगा। मानवीय बुद्धि कौशल ने आनन्द हेतु रूपसृष्टि की रुप कल्पना के मूल में बाधक तत्वों के नाश के लिए ही चित्रसर्जना की गई। भावावेग की अभिव्यक्ति को प्रथम मानवीय अभिव्यक्ति का प्रथम मानवीय प्रयत्न नृत्य के माध्यम से हुआ। संगीत और भाषा के साथ अन्य कलाएँ लक्षित हुई। आदिम जातियों के अध्ययन से विद्वान इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। विवाह, शस्यागम, वर्षा, बसंत आदि अवसरों पर मानवीय अन्तर्चेतना की सत्ता उल्लास प्रकट करने के लिए लालायित रहती हैं।

मूर्तियों, चित्रों, काव्यों, और शब्दों सें आदिम बिम्ब खींचे जाते हैं। व्यापक अर्थ में ये एक भाषा कला है। आजकल कलाओं को रचनात्मक कला कहते हैं। मध्यकाल में भी यही मान्यता थी कि कवि या कलाकार कुछ नयी रचना करता है। 'विधाता की रचना में कलाकार कुछ नया जोड़ देता है– जैसे शट्रस विधि से नवरस–नवभाव की विधि भिन्न सृष्टि की ध्वनि है। मानस कल्पना के रूपों की क्रियाविधि नई सृष्टि् है। इसी अर्थ में चित्रकूट की चित्र संस्कृति लोक जीवन से संस्कारित है। आध्यात्मिक ग्रन्थों, प्राकृतिक एवं भौगोलिक परिवेशों ऐतिहासिक साक्ष्यों पर अनुसन्धानिक दृष्टि नैतिक मूल्यों का प्रकाश है। लोक जीवन में चित्रों की पूरी सभा है। विविध रूपों के संधान में अपरिमित अनुराग और सौन्दर्य हमारी सामाजिक चेतना की स्फूर्ति हैं।[6]

संस्कृति क्या है?

'संस्कृति' एक अमूर्त पद हैं। मूर्त–अमूर्त के अर्थ में समावेशी तत्त्व सुरुचि एवं शिष्ट् व्यवहार का एक लक्षण है, जिसके प्रयोग में साहित्य, संगीत एवं कला–स्थापत्य उद्यान आदि कलाकृतियों को संस्कृति के रूप में देखा जाता है। इस प्रकार सामाजिक रीति–रिवाज भी संस्कृति के क्षेत्र में आते हैं। आचार–विचार का सम्यक व्यवहार संस्कृति कहलाती है। रचना–बसाना और उसे सुरक्षित रखना संस्कृति कहलाती है। 'संस्कृति शब्द संस्कृत की' धातु से 'क्टिन' प्रत्यय एवं 'सम' उपसर्ग को जोड़कर बना है। सम् + कृ + क्ति = संस्कृति। वास्तव में संस्कृति शब्द का अर्थ अत्यन्त ही व्यापक है।[7]

https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2026.v17i01.17

हिंदी शब्दसागर (कोश) में संस्कृति शब्द के जो अर्थ दिए गए हैं, वे सभी शारीरिक और मानसिक संस्कार के सूचक है। भाव यह है की परिष्कृत अर्थ में (संस्क्रिया) का भाव सन्निविष्ट है जो नैर्वचनिक संप्रेषण है, जो बोधक सत्य भी है। विचारणीय है कि परिष्कार अपनी क्रिया के साथ ही समाप्त हो जाने वाला कार्य व्यापार नहीं है, अपितु सृजनात्मक प्रक्रिया है। संस्कृति के निर्वाचन मूलक अर्थ के पश्चात् संर''ति–शब्द–प्रयोग की परम्परा और दिशा का भी विचार प्रासंगिक है।

''प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः''– महर्षि व्यास .अर्थात् ''लोक को प्रत्यक्ष देखने वाला ही सर्वदर्शी होता है।''[8]

उपरोक्त कथन से यह पुष्टि होती है कि यदि हम लोक को जानना चाहते हैं, तो हमें लोक चेतना, लोक भावना तथा सामान्य जन आचार–विचार व्यवहार का निरीक्षण कर सत्यता की परख करनी होगी, तभी हम ''लोक'' शब्द की व्याख्या करने में सफल होगें। लोक की संस्कृति, सभ्यता और विश्वास की व्याख्या करने से पूर्व हमें ''लोक''शब्द की विवेचना करना आवश्यक है। अनेक विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अपने मत दिए हैं। अनेक विवाद भी उत्पन्न हुए। उन सभी मतों पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालना आवश्यक हैं।

जब से सृष्टि की रचना हुई तब से''लोक'' शब्द का प्रादुर्भाव हुआ। वेद पुराणों में स्वर्गलोक, पृथ्वीलोक, नागलोक इत्यादि का सन्दर्भ आता है। पौराणिक साहित्य में ''लोक'' ब्रह्मा का दूसरा नाम भी माना गया है। यहाँ हम ''लोक''शब्द की व्याख्या क्रमिक रूप से करेंगे।

ऋग्वदे में अनेक स्थानों पर सामान्य जन के लिए ''लोक'' शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में ही पुरुष सूक्त में ''लोक'' शब्द का प्रयोग जीव तथा स्थान के लिए किया गया हैं। उपनिषदों में भी अनेक स्थानों पर लोक शब्द का व्यवहार हुआ है।[9]

जैमनीय उपनिषद् ने लोक को अनेक प्रकार से व्याख्यायित हुआ है। प्रत्येक वस्तु में यह प्रभूत या व्याप्त है, ऐसा माना गया है। महाभारत के आदि पर्व में ''लोक'' शब्द का प्रयोग जन–साधारण के सन्दर्भ में किया गया है।

नाट्य शास्त्र के रचयिता भरतमुनि ने ''लोक'' की महत्ता को स्वीकार करते हुए माना है कि अपने ग्रन्थ में मैने जो कुछ नहीं कहा है, वह बुद्धिजीवियों को ''लोक'' से ग्रहण करना चाहिए। उपरोक्त वाक्य सिद्ध करता है कि ''लोक'' की महत्ता गुरु से भी अधिक हैं।[10]

महाभारत में स्वयं श्रीकृष्ण ने वेद से अलग ''लोक'' के अस्तित्व को स्वीकारा हैं। इसी प्रकार महाकाव्याकरणाचार्य ''पाणिनी'' ने भी वेद और ''लोक'' की स्वतन्त्र सत्तायें स्वीकार की हैं। इसी मत को महाकवि तुलसीदास ने भी रामचरित मानस में स्वीकारा हैं। प्राचीन ग्रन्थों और साहित्य मनीषियों के अतिरिक्त समकालीन लोक–विचारकों ने भी ''लोक'' शब्द की विवेचना की है।[11]

लोक साहित्य विज्ञान में डॉक्टर सत्येंद्र ने लिखा है– ''लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है।''

हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास के शोडस भाग में श्रीकृष्णदेव उपाध्याय ने लिखा है कि– "जो लोग संस्कृति तथा परिष्कृत लोगों के प्रभाव से बाहर रहते हुए भी अपनी पुरातन स्थिति में वर्तमान है, उन्हें लोक की संज्ञा प्राप्त है।''

उपरोक्त दोनों कथनों से डॉ0 नर्मदा प्रसाद गुप्त असहमत हैं, उनका विचार है– ''शास्त्रों से बंधे शास्त्रीय अधिक रुढ़िग्रस्त होते हैं, जब कि लोकतत्व से सम्प्रेरित लोग सहज, अधिक स्वच्छन्द, प्रकृति और ताजे रहते हैं।''

लोक को परिभाषित करने में डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन अधिक सारगर्भित एवं स्पष्ट है– ''लोक शब्द का अर्थ 'जनपद' या ग्राम्य नहीं है। बल्कि नगर एवं गांवों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिनके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है। ये लोग नगर में परिष्कृत रुचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा, अधिक सरल तथा अप्रतिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए, जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती है, उसको उत्पन्न करते हैं।[12]

इन सभी विद्वानों के विचारो ं को ध्यान में रखते हुए मेरे विचार से ''लोक'' शब्द की व्युत्पत्ति 'लुक' धातु से हुई है जिसका अर्थ देखना हैं। समाज में सामान्यतः तीन वर्ग होते हैं– उच्च, मध्यम और सामान्य। उच्च वर्ग आर्थिक शैक्षिक दृष्टि से तो सम्पन्न हाल और नित नवीन भोग विलास में लिप्त रहता हैं। मध्यम वर्ग मध्यम शैक्षिक दृष्टि से तो सम्पन्न है किंतु उनका आर्थिक पक्ष सबल नहीं है और सामान्य वर्ग आर्थिक और शैक्षिक दोनों दृष्टि से हीन हैं। मध्यम और सामान्य सदैव देश, काल के अनुकूल अपना जीवन व्यतीत करता है वहीं 'लोक' हैं और 'लोक' में होने वाले क्रिया कलापों का संवाहक हैं।

'लोक' की अपनी व्यवहारिकता होती है, जिससे बाहर निकलना सामान्य जन के वश की बात नहीं है। वहीं व्यवहारिकता ही लोक–संस्कृति की जननी है। लोक–संस्कृति प्रत्येक क्षेत्र की भीतरी शक्ति है, जो इतनी सुदृढ़ होती है कि वह विपरीत परिस्थितियों या विजातीय तत्वों से भी प्रभावित नहीं होती है। लोक–संस्कृति हमारे जीवन वृक्ष की जड़ के समान है। उस जड़ को लोक विश्वास के पोषक तत्व मिलने पर ही पुष्पित–पल्लवित होनें के अवसर मिलते हैं।[13]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार– ''जनपदों के अपने शील, वेश, भाषा, आचार, देवता, समाज, उत्सव और बिहार होते हैं अर्थात् प्रत्येक जनपद या क्षेत्र की अपनी एक विशिष्ट् पहचान होती हैं। जिसे दूसरे शब्दों में 'लोक–संस्कृति' भी कहा जाता है।

लोक–संस्कृति एक व्यापक शब्द हैं। यह जन–जीवन के प्रत्येक पहलू में हैं। मानव का भूत, भविष्य और वर्तमान सभी लोक–संस्कृति से आबद्ध हैं। इसमें जन सामान्य के आदर्श, विश्वास, रीति–रिवाज एवं लोक मूल्य भी सम्मिलित है।

''लोक संस्कृति मानवीय समुदाय में निहित होती है'' उसका निकटतम् सम्बन्ध उच्चतम् मूल्यों से होता है। उच्चतम् मूल्यों की चेतना के संस्पर्श से जीवन की प्रवृत्ति परिष्कृत होकर संस्कृति कहलाती है। इस प्रकार सांस्कृतिक अवधारणा में मूल्यांकित आयाम– (1) लौकिक उन्नति का आयाम (2) नैतिक और पारमार्थिक मूल्यों का आयाम सभ्यता के अन्तर साम्य और सांस्कृतिक साम्य, मानवीय मेघा और प्राण शक्ति मूलभूत तत्व है।[14]

संस्कृति एक प्रेरक शक्ति के रूप में मनुष्य के आचरण को गढ़ती है, जिससे उसके सामाजिक व्यवहारों में शिष्टता एवं शालीनता झलकती है। 'शुद्धतम सेवादृष्टि क्रियाशील संस्थाओं की प्रेरक शक्ति भी संस्कृति ही है। संस्कृति मनुष्य के सामाजिक शील की संरक्षिका है। संस्कृति इस बात की कसौटी है कि हम अपनी चित्तवृत्तियों का संस्कार कितना कर पाए हैं।

''प्रकृति तार्किक ज्ञान का रचित विषय है, संस्कृति निजानुभूति का प्रकार है।'' विभिन्न शैलियों में अभिव्यंजित ''रूप अपने इतिहास और अपनी ख्याति की अपेक्षा लिए बिना हमारे पारिवारिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन की परम्पराओं के साथ सम्बद्ध होकर, हमारे बौद्धिक धरातल को स्पर्श किए बिना हमारे आँगनों में पलता हुआ आगे बढ़ा। भारत की जन चेतना में एकमेव प्राण बनकर यह लोककला न जाने अतीत की किस स्वर्णिम बेला से हमारे उल्लासमय सम्बन्धों में जुड़कर हमारे साथ चली आ रही है।

हमारें अज्ञात नामा लोक कलाकारों ने, जिनमें नारियों की भूमिका अद्वितीय रही है, धरती के प्रति पवित्र प्रेम एवं निष्ठा को अपने हृदय की अजस्र धारा द्वारा अभिसिंचित करके सहज, सुन्दर, कलाकृतियाँ ऐसी दीं हैं, जो हमारे राष्ट्र की सम्पूर्ण चेतना को आल्हादित करती हैं।

'यद्यपि विभिन्न प्रदेशों में लोक कला के इन भूमि चित्रों को अनेक नामों से जाना गया, किंतु उनके मूल में जो आह्लाद तथा आत्मीयता है, वह एक ही रूप में सर्वत्र विद्यमान है। महाराष्ट्र में जिसको रंगोली गुजरात में साथिया, राजस्थान में मांड़णाँ, उत्तर प्रदेश में कुछ स्थानों पर सोन रखना या चौक–पूरना, अल्मोड़ा तथा गढ़वाल में अल्पना, बिहार में ऐपन तथा बंगाल में अल्पना कहा जाता है, नाम की भिन्नता के बावजूद भी उनके भीतर सारे देश की आत्मा बोल रही है। देश के प्रत्येक अंचल के इस लोक–चित्रों की सैकड़ों तरह की आकृतियाँ यद्यपि कला खोजियों ने प्रकाशित कर दी है, किन्तु संख्या में वे इससे भी अधिक है।

'लोक कला के इन प्रचलित नामों कल्पवल्लियों का भी एक स्थान है। भारत में ईशा की कुछ शताब्दियों पूर्व ही घरों की स्वच्छता, दीवारों पर सूक्ष्म रेखा विशारद् कलाकार नाना भाव–रसों से युक्त इन कल्पवल्लियों को अंकित किया करते थे। यद्यपि उनके स्वरूप में शास्त्रीय दृष्टि की अधिकता है, किंतु वस्तुतः वे लोक–कला की ही अनुभूतियाँ है और उनका विकास हमें भित्तिचित्रों के निर्माण में दिखाई देता है। लोककला के उक्त विभिन्न रूप धूलि–चित्रों पर आधारित अपने विकास का इतिहास स्वयं बताते हैं।[15] ये धूलि–चित्र पिसे हुए चावलों अथवा रंग–बिरंगी मिट्टी से बनाये जाते थे, जिसका प्रचलन मौर्य युग में ही किया जा चुका था। लोक कला की प्राचीनतम् परम्परा की उपलब्धि शुंगकालीन सांची के तोरणों में अंकित जातक कथाओं के लोक चित्रों में होती है। सांची की कला को इतनी लोकप्रियता प्राप्त होने का यही कारण था कि उसमें लोक रूचियों का समावेश था।

संदर्भ

1. अग्रवाल, अमीचन्द रायगढ़ के पाषाण कालीन (युगीन) भित्तिचित्र मध्यप्रदेश, भोपाल, वर्ष 3, अंक 4, 10 सितम्बर 1977, पृ0सं0 3 सचित्र
2. अग्रवाल, बंशीधर शैल चित्रों की तिथियों का निर्धारण कला–कर्ता, मध्य प्रदेश, कला परिषद भोपाल, अंक 30, अगस्त 1983, पृ0सं0 19।
3. अजन्ता–सम्पादनक 1960 उपाध्याय, भगवतशरण/हिन्दी विश्वकोश खण्ड 1, वाराणसी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृ0सं0 3 सचित्र।
4. अष्टमंगल माला (मंगलिक प्रतीक) संपादन उपाध्याय, डॉ. भगवतशरण, वाराणसी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृ0सं0 282–283।

5. अग्रवाल वंशीधर शैल चित्रों की तिथियों का निर्धारण, कलाकर्ता, मध्य प्रदेश, कला परिषद भोपाल, अंक 30, अगस्त 1983, पृ0सं0 9, ऐतिहासिक पुरुषों की, प्रतिक्रिया सबीह / इतिहास दर्शन
6. (निबंध संग्रह) में वाराणसी, पृथ्वी प्रकाशन, 1978, पृ0सं0 170–174।
7. स्वर्ण मुद्राओं में अंकित गुप्त सम्राटों की आकृतियाँ / कला और संस्कृति (निबन्ध संग्रह) ठलाहाबाद, साहित्य भवन लि0 1932, पृ0सं0 16–30, भारतीय संस्कृति तथा कला विषयक निबन्ध।
8. अग्रवाल वासुदेव शरण भारतीय कला (प्रारम्भिक कला से तीसरी शताब्दी ई0 तक) वा. पृथ्वी प्रकाशन 1963, द्वितीय संस्करण क्षेत्र एवं रेखा चित्र के साथ।
9. भारतीय कला का सिंहावलोकन नई दिल्ली भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण भारत सरकार 1948 पृ0सं0 12 सचित्र।
10. राजघाट के खिलौनों का एक अध्ययन– नगरी प्रचारिणी पत्रिका काशी खण्ड–43 1940, पृ0सं0 215–216
11. संस्कृत साहित्य में चित्रकला सम्बन्धी सामग्री, सम्मेलन पत्रिका, हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, सम्वत् 1880 शक्, कला अक पृ0सं0 94– 99।
12. साहित्य और कला का सम्बन्ध, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी खण्ड 56, 1961, पृ0सं0 361–347
13. लोक कला का अंतर्सम्बन्ध, मध्य प्रदेश की लोक भाषाएं सम्पादक, डॉ0 बसंतीलाल वंश, उज्जैन अन्विति प्रकाशन पृ0सं0 6।
14. भारतीय कला और बृहत्तर भारत–संकृति (श्री आदित्यनाथ झा अभिनन्दन ग्रन्थ) नई दिल्ली समिति द्वारा प्रकाशित खण्ड 2, पृ0सं0 391–397।
15. भारतीय सिक्के इलाहाबाद भारतीय भण्डार पृ0सं0 18–260–16 सचित्र।